सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

नियमसार गाथा १७९

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि निर्वाण का कारण होने से वह परमतत्त्व ही निर्वाण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है -

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१७९।।

(हरिगीत)

न जनम है न मरण है सुख-दुख नहीं पीड़ा नहीं।
बाधा नहीं वह दशा ही निर्बाध है निर्वाण है।।१७९।।

जहाँ अर्थात् जिस आत्मा में दुख नहीं है, सुख नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है; वहाँ ही अर्थात् उस आत्मा में ही, वह आत्मा ही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''सांसारिक विकार समूह के अभाव के कारण उक्त परमतत्त्व वस्तुत: निर्वाण है - यहाँ ऐसा कहा गया है।

निरन्तर अन्तर्मुखाकार परम अध्यात्मस्वरूप में निरत उस निरुपराग रत्नत्रयात्मक परमात्मा के अशुभ परिणति के अभाव के कारण अशुभ कर्म नहीं है और अशुभ कर्म के अभाव के कारण दुख नहीं है; शुभ परिणति के अभाव के कारण शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के अभाव के कारण वस्तुत: सांसारिक सुख नहीं है; पीड़ा योग्य यातना शरीर के अभाव के कारण पीड़ा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म के अभाव के कारण बाधा नहीं है; पाँच प्रकार शरीररूप नोकर्म के अभाव के कारण मरण नहीं है और पाँच प्रकार के नोकर्म के हेतुभूत कर्म पुद्गल के स्वीकार के अभाव के कारण जन्म नहीं है। - ऐसे लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व को सदा निर्वाण है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यहाँ परमतत्त्व के वास्तव में विकारसमूह का अभाव होने के कारण निर्वाण है – ऐसा कहा है। परमतत्त्व विकाररहित होने से द्रव्य-अपेक्षा से सदा मुक्त ही है; अतः मुमुक्षुओं को ऐसा समझना चाहिए कि विकाररहित परमतत्त्व के सम्पूर्ण आश्रय से ही वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्याय रूप से परिणमित होता है अर्थात् आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आचरण से ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।[१]

देखो ! यहाँ परमतत्त्व का वर्णन चलता है। जिसे हित करना हो और शान्ति एवं स्वतंत्रता चाहिये; उसे क्या करना चाहिए – इस बात को यहाँ बताते हैं। जगत में अनन्त पदार्थ हैं; उन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया है और उनका नाश भी नहीं होता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा भी नया उत्पन्न नहीं होता है और उसका नाश भी नहीं होता है।[२]

आत्मा परमतत्त्व है। शरीर, वाणी और मन – आत्मतत्त्व नहीं हैं। पुण्य-पाप के भाव कृत्रिम हैं। वे आत्मा में से निकल जाते हैं; अतः पुण्यपापरूप मैं नहीं हूँ। मैं तो विकाररहित चैतन्यमूर्ति हूँ – ऐसा ज्ञान करना ही शान्ति का प्रथम उपाय है।[३]

जिसप्रकार चन्द्र, सूर्य कभी मरते नहीं हैं; उसीप्रकार आत्मा भी मरता नहीं है। शरीर के संयोग को जन्म और उसके वियोग को मरण कहते हैं। वे जन्म-मरण आत्मा के नहीं होते हैं। सिद्धों के भी मरण नहीं है। **जगत में जो वस्तु होती है, वह कभी कहीं जाती नहीं है और जो नहीं होती है, वह उत्पन्न नहीं होती है।**[४]

ऊपर कथित लक्षणों से लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्व के सदा ही मोक्षतत्त्व है। आत्मा ज्ञानलक्षण से पहचाना जाता है। जिसप्रकार शक्कर की गागर शक्कर से भरी है; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञान से भरा है। इन्द्रियों का विषय खण्ड-खण्ड है। उनसे रहित आत्मा अखण्ड है। चिदानन्द आत्मा में पुण्य-पाप का विकल्प नहीं है। वह सदा मुक्त ही है। जो वस्तु, स्वरूप से मुक्त नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती है।[५]

ज्ञानमूर्ति आत्मा तो सदा मुक्त ही है; क्योंकि वह मुक्तस्वरूप ही है। उसकी दृष्टि करने से मुक्ति होती है।[६]"

यहाँ मूल गाथा में मो मात्र यही कहा गया है कि परमतत्त्व में सांसारिक सुख-दुःख, जन्म-मरण तथा पीड़ा और बाधा नहीं है। अन्तिम पद में कहा कि ऐसा आत्मा ही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त परमतत्त्व के प्रत्येक विशेषण को सकारण समझाया गया है। अन्त में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त विशेषणों से विशिष्ट परमतत्त्व ही निर्वाण है।

गाथा और टीका में परमतत्त्व की उक्त विशेषताओं में पूर्णतः स्पष्ट हो जाने के उपरान्त स्वामीजी उक्त सभी विशेषणों को उक्त परमतत्त्व के साथ-साथ निर्वाण पर भी घटित करते गये हैं।।१७९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है –

(मालिनी)

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम्।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम्।।२९८।।

(वीर)

भव सुख-दुख अर जनम-मरण की पीड़ा नहीं रंच जिनके।
शत इन्द्रों से वंदित निर्मल अद्भुत चरण कमल जिनके।।
उन निर्बाध परम आतम को काम कामना को तजकर।
नमन करूँ स्तवन करूँ मैं सम्यक् भाव भाव भाकर।।२९८।।

इस लोक में जिसे सदा ही भव-भव के सुख-दुख नहीं हैं, बाधा नहीं है, जन्म-मरण व पीड़ा नहीं है; उस कारणपरमात्मा एवं कार्य-परमात्मा को कामसुख से विमुख वर्तता हुआ मुक्तिसुख की प्राप्ति हेतु नित्य नमन करता हूँ, उनका स्तवन करता हूँ और भलीभाँति भावना भाता हूँ।

इस छन्द में सांसारिक सुख-दुःख से रहित, जन्म-मरण की पीड़ा से रहित, सर्वप्रकार बाधा से रहित, कारणपरमात्मा एवं कार्यपरमात्मा की कामसुख से विमुख होकर वन्दना की गई है, उनका स्तवन करने की भावना भाई गई है।।२९८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः।
अहमात्मानमानन्दमंदिरं नौमि नित्यशः।।२९९।।

(दोहा)

आत्मसाधना से रहित है अपराधी जीव।
नमूँ परम आनन्दघर आतमराम सदीव।।२९९।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४८९ २. वही, पृष्ठ १४९१ ३. वही, पृष्ठ १४९१
४. वही, पृष्ठ १४९२ ५. वही, पृष्ठ १४९२ ६. वही, पृष्ठ १४९३

आत्मा की आराधना से रहित आत्मा को अपराधी माना गया है; इसलिए मैं आनन्द के मन्दिर आत्मा को नित्य नमन करता हूँ।

इस छन्द में भी आत्मा की आराधना से रहित जीवों को अपराधी बताते हुए ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा और अरहंत-सिद्धरूप कार्य-परमात्मा को नमस्कार किया गया है ।।२९९।।

नियमसार गाथा १८०

विगत गाथा में जिस परमतत्त्व को निर्वाण बताया गया है। इस गाथा में भी उस निर्वाण के योग्य परमतत्त्व का स्वरूप समझाया जा रहा है। गाथा मूलत: इसप्रकार है–

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१८०।।

(हरिगीत)

इन्द्रियाँ उपसर्ग एवं मोह विस्मय भी नहीं।
निद्रा तृषा अर क्षुधा बाधा है नहीं निर्वाण में ।।१८०।।

जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं हैं, मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, निद्रा नहीं है, तृषा नहीं है, क्षुधा नहीं है; वही निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह परम निर्वाण के योग्य परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है।

उक्त परमतत्त्व अखण्ड, एकप्रदेशी, ज्ञानस्वरूप होने से उसे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियों का व्यापार नहीं है; देव, मानव, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग नहीं है; क्षायिक ज्ञान और यथाख्यात चारित्रमय होने के कारण दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का मोहनीय नहीं है; बाह्यप्रपंच से विमुख होने के कारण विस्मय नहीं है, नित्य प्रगटरूप शुद्धज्ञानस्वरूप होने से उसे निद्रा नहीं है; असाता वेदनीय कर्म को निर्मूल कर देने से उसे क्षुधा और तृषा नहीं है; उस परमात्मतत्त्व में सदा ब्रह्म (निर्वाण) है।''

स्वामीजी उक्त गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''परमतत्त्व में इन्द्रियाँ और उपसर्ग नहीं हैं। सिद्धदशा में प्रतिकूलता का संयोग ही नहीं है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व में और मुक्तदशा में प्रतिकूलता का स्पर्श नहीं है।[१]

देव, मनुष्य, पशु आदिकृत उपसर्ग परमतत्त्व में नहीं हैं। चिदानन्द तो ज्ञानशक्ति से भरा हुआ है।[१]

त्रिकाली स्वभाव में प्रतिकूलता और उपसर्ग नहीं है – ऐसा भान करके, उसमें लीनता होने पर पूर्णदशा होती है; उस पूर्णदशा में भी उपसर्ग नहीं है। आत्मा अथवा मुक्तजीव के मोह नहीं है।[२]

सिद्धजीवों में विस्मयता (आश्चर्य का भाव) नहीं है। इस आत्मा में भी कौतूहलता नहीं है। करोड़पति सेठ भिखारी और भिखारी करोड़पति हो जाता है; फिर भी आत्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता। मानव मरकर देव तथा देव मरकर तिर्यंच्च हो जाता है; तो भी आत्मा को कुछ विस्मय नहीं होता।[३]

आत्मा में निन्द्रा नहीं है। मैं चिदानन्द ज्ञानकुण्ड हूँ। ऐसे भान बिना आत्मा अनन्तकाल से पर्याय में सो रहा है, राग-द्वेष की निद्रा में सो रहा है। यह कृत्रिमता इसने स्वयं उत्पन्न की है; परन्तु भगवान आत्मा तो ज्ञानज्योति है; उसमें निद्रा नहीं है, मुक्तदशा में भी निद्रा नहीं है।

आत्मा में क्षुधा नहीं है। पेट में क्षुधा की अवस्था होती है; परन्तु यदि यह जीव उसका लक्ष न करते हुए अन्तर चिदानन्द का लक्ष करे तो क्षुधा दिखाई ही नहीं देती; क्योंकि आत्मा में क्षुधा नहीं है और सिद्धों में भी क्षुधा नहीं है।

परमतत्त्व में ही निर्वाण है। आत्मा परमतत्त्व है। उसका ज्ञान करके जो दशा प्रगट हुई, उसमें इन्द्रियादि नहीं हैं। वास्तव में मुक्ति तो आत्मा की आनन्ददशा में है। बाह्य क्षेत्र में मुक्ति नहीं है।[४]''

इस गाथा और उसकी टीका में भी विगत गाथा और उसकी टीका के समान गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि उक्त परमतत्त्व में इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है, विस्मय, निद्रा, क्षुधा-तृषा नहीं है; अत: वही निर्वाण है; किन्तु टीका में उक्त विशेषणों को सहेतुक सिद्ध किया गया है ।।१८०।।

इसके बाद **'तथा अमृताशीति में भी कहा है'** – ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५००

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५००
२. वही, पृष्ठ १५०१
३. वही, पृष्ठ १५०१
४. वही, पृष्ठ १५०२

तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ।।८७।।[१]

(रोला)

जनम जरा ज्वर मृत्यु भी है पास न जिसके।
गती-अगति भी नाहिं है उस परमतत्त्व को ।।
गुरुचरणों की सेवा से निर्मल चित्तवाले।
तन में रहकर भी अपने में पा लेते हैं।।८७।।

जिस परमतत्त्व में ज्वर, जन्म और जरा (बुढ़ापा) की वेदना नहीं है; मृत्यु नहीं है और गति-अगति नहीं है; उस परमतत्त्व को अत्यन्त निर्मल चित्तवाले पुरुष, शरीर में स्थित होने पर भी गुण में बड़े - ऐसे गुरु के चरण कमल की सेवा के प्रसाद से अनुभव करते हैं।

उक्त छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''आत्मा की वर्तमान पर्याय को गौण करके ध्रुवस्वभाव को देखें तो उसमें ज्वर नहीं है, जन्म नहीं है, वृद्धावस्था नहीं है - इत्यादि समस्त विकारों से रहित आत्मतत्त्व है। भाई! ये सारी अवस्थायें तो शरीर की अवस्थायें हैं। आत्मा में ये अवस्थायें नहीं हैं। जिसप्रकार चन्द्रमा और सूर्य कभी मरते नहीं हैं; उसीप्रकार आत्मा भी कभी मरता नहीं है। उसके गमन-आगमन नहीं है, आत्मा कहीं जाता नहीं है और कहीं से आता भी नहीं है। ऐसे आत्मा को ज्ञानी जीव अनुभवते हैं।

ज्ञानी गुरुओं के निमित्त से जब जीव धर्म पाता है, तब उनकी महिमा बताते हुए कहा जाता है कि गुरु के चरणकमल की सेवा से धर्म प्राप्त किया।[२]

भाई! ज्ञानीजीव को भी गुरु के बहुमानरूप शुभभाव होता है - ऐसी पात्रता बिना और सच्चे गुरु के निमित्त मिले बिना काम होनेवाला नहीं है। ऐसा समझकर स्वभाव का आश्रय करने पर अन्तर-अनुभव प्राप्त होता है।[३]''

इस छन्द में ज्वर, जरा, जन्म और मरण की वेदना से रहित, गति-आगति से रहित निज भगवान आत्मारूप परमतत्त्व को तन में स्थित होने पर भी निर्मल चित्तवाले पुरुष गुणों से महान गुरु के चरणों की सेवा के प्रसाद से प्राप्त कर लेते हैं। **तात्पर्य यह है कि देशनालब्धिपूर्वक सम्यक् पुरुषार्थ के बल से आत्मार्थी पुरुष निज आत्मा को**

१. योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति, छन्द ५८
२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५०९
३. वही, पृष्ठ १५१०

प्राप्त कर लेते हैं।।८७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे-
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित्।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम्।।३००।।

(रोला)

अनुपम गुण से शोभित निर्विकल्प आतम में।
अक्षविषमवर्तन तो किंचित्मात्र नहीं है।।
भवकारक गुणमोह आदि भी जिसमें न हों।
उसमें निजगुणरूप एक निर्वाण सदा है।।३००।।

अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ब्रह्म में इन्द्रियों का अति विविध और विषम वर्तन किंचित् मात्र भी नहीं है तथा संसार के मूलभूत अन्य मोह-विस्मयादि सांसारिक गुण समूह नहीं है; उस ब्रह्म में सदा निज सुखमय एक निर्वाण शोभायमान है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

''आत्मा के गुण अनुपम हैं, उपमारहित हैं। ज्ञायकस्वरूप आत्मा में पाँच इन्द्रियों का व्यापार नहीं है, वह तो राग-द्वेषादि समस्त व्यापार से रहित है; क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है। उसका आदर करके, संसारदोष दूरकर जिसने परमात्मदशा प्रगट की है; उसे इन्द्रियों की विविधता और विषमता नहीं है। इन्द्रियाँ आत्मा को स्पर्शती ही नहीं है।[१]

आत्मतत्त्व में संसार के मूलभूत अन्य मोहविस्मयादि संसारी गुणसमूह नहीं हैं। शुभाशुभभाव जो सांसारिक गुण हैं; वस्तुतः वे दोष हैं। **जिसप्रकार चिरायता बहुत कड़वा होता है; फिर भी उसे गुणवान कहा जाता है; उसीप्रकार संसार में रखड़ने का भाव हो तो वह संसार के लिए तो गुण ही है; पर मोक्ष के लिए दोष है।**[२]

आत्मतत्त्व में सदा निज सुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है। निर्वाण चिदानन्द आत्मा का एक ही स्वरूप है; उसमें सदा आनन्द है। **ज्ञानी जीव को पर्याय में जितना परद्रव्य का अवलंबन है, उतना दुःख है और जितना स्व का अवलंबन**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१२
२. वही, पृष्ठ १५१२

है, उतना सुख है। अज्ञानी पूर्ण दुःखी है और सिद्ध पूर्ण सुखी हैं।[१]

भाई ! चिदानन्द आत्मा में निर्वाण प्रकाशमान है। यह मोक्षरूप शक्ति की बात है। यह जीव इस शक्ति की प्रतीति कर ले तो इसे पर्याय में भी निर्वाण की प्राप्ति हो जाये।[२]''

इस छन्द में यह कहा गया है कि इन्द्रियों के विविध प्रकार के विषम वर्तन से रहित, अनुपम गुणों से अलंकृत, संसार के मूल (जड़) मोह-राग-द्वेषादि सांसारिक गुणों (दोषों) से रहित निज निर्विकल्पक आत्मा में निर्वाण (मुक्ति) सदा विद्यमान ही है ।।३००।।

नियमसार गाथा १८१

विगत दो गाथाओं में परमपारिणामिकभावरूप परमतत्त्व ही निर्वाण है - यह कहा गया है। इस गाथा में भी उसी बात को आगे बढा रहे हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१८१।।

(हरिगीत)

कर्म अर नोकर्म चिन्ता आर्त्त रौद्र नहीं जहाँ।
ध्यान धरम शुकल नहीं निर्वाण जानो है वहाँ।।१८१।।

जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं हैं, चिन्ता नहीं है, आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है; वहाँ निर्वाण है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह सर्व कर्मों से विमुक्त तथा शुभ, अशुभ और शुद्धध्यान तथा ध्येय के विकल्पों से मुक्त परमतत्त्व के स्वरूप का व्याख्यान है।

जहाँ (जिस परमतत्त्व में) सदा निरंजन होने से आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं; त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से पाँच प्रकार के नोकर्म (शरीर) नहीं हैं; मन रहित होने के कारण चिन्ता नहीं है; औदयिकादि विभाव भावों का अभाव होने से आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य चरम शरीर न होने से ये दोनों उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं है; वहाँ ही महानंद है।''

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१३ २. वही, पृष्ठ १५१३

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''सिद्ध भगवान में शरीर, वाणी, कर्म नहीं हैं; क्योंकि जो मूलतत्त्व में नहीं है, वह उनमें से निकल गया है। संसार अवस्था में आत्मा का जो पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है, वह सिद्धपर्याय में नहीं है तथा आत्मा में चिन्ता भी नहीं है; अतः सिद्धदशा होने पर वह पर्याय से भी निकल जाती है। चिन्ता मोक्षमार्ग में भी नहीं है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान - ये दोनों ध्यान आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं तथा जितना मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसमें भी ये दोनों ध्यान नहीं हैं तथा सिद्धपर्याय में तो सर्वथा ही नहीं हैं। भगवान ने विकारी पर्याय को नष्ट कर मुक्तदशा को प्राप्त किया है, यह निर्वाण है। सिद्धशिला पर जाना निर्वाण नहीं है; क्योंकि वहाँ तो निगोदिया जीव भी हैं; उन्हें तो मोक्ष नहीं होता; अतः क्षेत्र के कारण मोक्ष नहीं होता।

भाई ! आत्मा में पूर्णशुद्धपर्याय का प्रगट होना मोक्ष है। धर्मध्यान निचलीदशा में होता है और शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान तक होता है; परन्तु सिद्धों में ध्यान नहीं होता।[१]

परमतत्त्व अर्थात् सिद्धपरमात्मतत्त्व तथा त्रिकाली आत्मतत्त्व - दोनों की यहाँ बात करते हैं।

परमतत्त्व सदा निरंजन होने के कारण उसमें आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं। आठ कर्म तो जड़ हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। वे निमित्तरूप से संसारी जीवों के होते हैं। सिद्धों के निमित्तरूप से भी नहीं होते हैं। तीनों काल निरुपधि स्वरूपवाला होने से परमतत्त्व के पाँच प्रकार का शरीर नहीं है। जितने सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे; उन सभी के पाँचों ही प्रकार के शरीर नहीं हैं।

तथा आत्मा मनरहित होने से उसे चिन्ता नहीं है। एक समय की पर्याय में, संसारदशा में, विकल्प में मन निमित्त होता है; परन्तु त्रिकाली तत्त्व को मन का सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार सिद्धों के मन नहीं है; अतः उन्हें चिन्ता भी नहीं है। **औदयिक आदि चार विभावभाव आत्मा में नहीं हैं; अतः उसमें आर्त और रौद्र ध्यान भी नहीं है।[२]**

भाई ! सिद्धदशा में ही महा-आनन्द है। चारों ही प्रकार के ध्यान सिद्धों

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१४-१५१५ २. वही, पृष्ठ १५१५

के नहीं हैं। शुक्लध्यान उत्कृष्ट ध्यान है, इसके योग्य चरमशरीर ही होता है, सिद्धों के वह शरीर नहीं है; अतः उनके शुक्लध्यान भी नहीं है। भाई! वास्तव में तो त्रिकाली तत्त्व में ही आनन्द है, सिद्धों की पर्याय में भी आनन्द है; परन्तु परद्रव्य में आनन्द नहीं है।[१]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि उक्त परमतत्त्व में; सदा निरंजन होने से ज्ञानावरणादि आठ कर्म नहीं हैं, त्रिकाल निरुपाधि स्वभाववाला होने से औदारिकरूप पाँच शरीररूप नोकर्म नहीं है, औदयिक आदि विभावभावों का अभाव होने से चार प्रकार के आर्त और चार के प्रकार के रौद्रध्यान नहीं हैं, चरम शरीर का अभाव होने से चरम शरीरी के होने वाले चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान नहीं हैं तथा मन नहीं होने से चिन्ता भी नहीं है।

इसप्रकार महानन्दस्वरूप उक्त परमतत्त्व के न तो कर्म हैं, न नोकर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त-रौद्रध्यान है तथा धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि आश्रय करने योग्य वह परमतत्त्व ही है।।१८१।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च नच पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम्।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम्।।३०१।।

(रोला)

जिसने घाता पापतिमिर उस शुद्धातम में।
कर्म नहीं हैं और ध्यान भी चार नहीं हैं।।
निर्वाण स्थित शुद्ध तत्त्व में मुक्ति है वह।
मन-वाणी से पार सदा शोभित होती है।।३०१।।

जिसने पापरूपी अंधकार के समूह का नाश किया है, जो विशुद्ध है; उस निर्वाण में स्थित परम ब्रह्म में सम्पूर्ण कर्म नहीं है और चार प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धरूप ज्ञानपुंज भगवान परम ब्रह्म में कोई ऐसी मुक्ति है, जो वचन और मन से दूर है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१६

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''इस शुद्धभाव अधिकार में सिद्धों का स्वरूप कैसा होता है और वह दशा किस उपाय से प्राप्त होती है? – यह बताते हैं। **मात्र परमानन्द के अनुभववाला आत्मा सिद्ध कहलाता है। वे जिस उपाय से सिद्ध हुए, उस उपाय को जानकर उसकी श्रद्धा करें तो सिद्ध की प्रतीति की – ऐसा कहा जाये;** परन्तु यह जीव अनादि से जो करता आ रहा है, उस उपाय से सिद्धदशा नहीं होती है; परन्तु **मेरा स्वभाव सिद्ध जैसा है – ऐसा निर्णय कर उसमें लीन हो जाये तो उसके द्वारा सिद्ध हो जाता है।**[१]''

जो बात गाथा और उसकी टीका में कही गई है, वही बात इस छन्द में भी कही गई है। कहा गया है कि पापरूपी अंधकार का नाश करनेवाले, निर्वाणदशा को प्राप्त, विशुद्ध परमब्रह्म में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म नहीं है; चार प्रकार के ध्यान भी नहीं हैं। उन सिद्धदशा को प्राप्त, ज्ञान के पुंज परमब्रह्म में मन-वचन से दूर कोई ऐसी मुक्ति प्रगट हुई है; जिसकी कामना सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन करते हैं।।३०१।।

नियमसार गाथा १८२

विगत गाथाओं में यह कहा था कि परमतत्त्व ही निर्वाण है और अब इस गाथा में उक्त निर्वाण अर्थात् सिद्ध भगवान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं।।१८२।।

(हरिगीत)

अरे केवलज्ञानदर्शन नंतवीरजसुख जहाँ।
अमूर्तिक अर बहुप्रदेशी अस्तिमय आतम वहाँ।।१८२।।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल वीर्य तथा अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व होते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह सिद्ध भगवान के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है।

सम्पूर्णतः अन्तर्मुखाकार स्वात्माश्रित निश्चयपरमशुक्लध्यान के बल से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१७

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का विलय होने पर; उक्त कारण से सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य और अमूर्तत्व, अस्तित्व तथा सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं।''

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह भगवान सिद्ध के स्वाभाविक गुणों का कथन है। सिद्धों का वर्णन करते हुए उन्होंने निर्वाण किसप्रकार प्राप्त किया – यह बात भी साथ में कह रहे हैं।[१]

सिद्ध भगवान के आत्मा ने पूर्व में संसार अवस्था में आत्मा की अन्तर्मुखदृष्टि की थी, तत्पश्चात् स्वरूप में एकाग्रता की थी – इसप्रकार एकाग्रतारूप चारित्र से सर्वथा अन्तर्मुख होकर वे भगवान बन गये, तब ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का क्षय हुआ और केवलज्ञानादि प्रगट हुए।

भाई! शुक्लध्यान का स्वरूप अन्तर्मुखपना है। इस शुक्लध्यान के बल से भगवान होते हैं; परन्तु बाह्य आहारादि छोड़ने से या आहार छोड़ने के विकल्प से सिद्धदशा नहीं होती है। यह सिद्ध होने का उपाय है, सर्वप्रथम इसे बराबर जानना चाहिए।[२]

मूलपाठ में कार्य परमात्मा की बात की है; परन्तु टीका में कारण-परमात्मा की बात भी साथ में समझाई है। यह टीकाकार की मौलिक शैली है।[३]''

इस गाथा में सिद्ध भगवान के अनन्त चतुष्टय और अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व की चर्चा है। टीका में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन गुणों की प्राप्ति निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से होती है।।१८२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है–

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टि: साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम्।।३०२।।

(रोला)

बंध-छेद से नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्ध में।
ज्ञानवीर्यसुखदर्शन सब क्षायिक होते हैं।।
गुणमणियों के रत्नाकर नित शुद्ध शुद्ध हैं।
सब विषयों के ज्ञायक दर्शक शुद्ध सिद्ध हैं।।३०२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५१९ २. वही, पृष्ठ १५२१ ३. वही, पृष्ठ १५२२

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा और नित्य शुद्ध प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी में बंधछेद के कारण सदा के लिए केवलज्ञान होता है, सभी को देखनेवाला केवलदर्शन होता है, अनन्तसुख होता है और शुद्ध-शुद्ध अनन्तवीर्य आदिक अनन्त गुणमणियों समूह होता है।

जो बात गाथा में कही गई है, उसी बात को इस छन्द में दुहरा दिया गया है।।३०२।।

नियमसार गाथा १८३

विगत गाथा में सिद्ध भगवान का स्वरूप समझाया था और अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं।।१८३।।

(हरिगीत)

निर्वाण ही सिद्धत्व है सिद्धत्व ही निर्वाण है।
लोकाग्र तक जाता कहा है कर्मविरहित आतमा।।१८३।।

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है – ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। कर्म से मुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त अर्थात् सिद्धशिला तक जाता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह सिद्धि और सिद्ध के एकत्व के प्रतिपादन की प्रवीणता है।

यह निर्वाण शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। यदि कोई कहे कि किसप्रकार तो उसके उत्तर में कहते हैं कि **'निर्वाणमेव सिद्धा** – निर्वाण ही सिद्ध हैं' – इस आगम के वचन से यह बात सिद्ध होती है। **'सिद्ध भगवान सिद्धक्षेत्र में रहते हैं'** – ऐसा व्यवहार है। निश्चय से तो सिद्ध भगवान निज स्वरूप में ही रहते हैं; इसकारण 'निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है' – इसप्रकार निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द में एकत्व सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि कोई आसन्न भव्य जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमभाव की भावना द्वारा सम्पूर्ण कर्मकलंकरूपी कीचड़ से मुक्त होते हैं; वे आसन्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७९ २. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १३८

भव्यजीव परमात्मतत्त्व प्राप्त कर लोक के अग्र भाग तक जाते हैं, सिद्धशिला तक पहुँचकर अनन्त काल तक के लिए वहीं ठहर जाते हैं।''

इस गाथा में निर्वाण ही सिद्धत्व है और सिद्धत्व ही निर्वाण है - यह निर्वाण और सिद्धत्व में एकत्व स्थापित किया गया है। गाथा की दूसरी पंक्ति में यह कहा गया है कि आत्मा की आराधना करनेवाले पुरुष अष्टकर्मों का अभाव करके लोकाग्र में जाकर ठहर जाते हैं, अनन्त काल तक के लिए वहीं विराजमान हो जाते हैं।।१८३।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।३०३।।

(रोला)

जिनमत संमत मुक्ति एवं मुक्तजीव में।
हम युक्ति आगम से कोई भेद न जाने।।
यदि कोई भवि सब कर्मों का क्षय करता है।
तो वह परमकामिनी का वल्लभ होता है।।३०३।।

जैनदर्शन में मुक्ति और मुक्त जीव में युक्ति और आगम से हम कहीं भी कोई भेद नहीं देखते। इस लोक में यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्मों का निर्मूलन करता है तो भव्यजीव मुक्तिलक्ष्मीरूपी वल्लभा का वल्लभ होता है।

इस छन्द में यह कहा गया है कि मुक्ति और मुक्त जीव में हमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि ये दोनों एक ही हैं। जो भव्यजीव अष्टकर्मों का नाश करते हैं; वे भव्यजीव मुक्तिरूपी लक्ष्मी के पति होते हैं, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।३०३।।

नियमसार गाथा १८४

विगत गाथा में कहा था कि सिद्धत्व और निर्वाण एक ही है और इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जहाँ तक धर्मद्रव्य है, जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।।

(हरिगीत)

जीव अर पुद्गलों का बस वहाँ तक ही गमन है।
जहाँ तक धर्मास्ति है आगे न उनका गमन है।।१८४।।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है; वहाँ तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है – ऐसा जानो। धर्मास्तिकाय के अभाव में उसके आगे वे जीव और पुद्गल नहीं जाते।

इस गाथा के भाव को मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ इस गाथा में सिद्धक्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों के गमन का निषेध किया गया है।

जीवों की स्वभावक्रिया सिद्धिगमन है अर्थात् सिद्धक्षेत्र तक जाने की है और विभावक्रिया अगले भव जाते समय छह दिशाओं में गमन है। पुद्गलों की स्वभावक्रिया परमाणु की गति है, गतिप्रमाण है और विभावक्रिया दो अणुओं से अनंत परमाणुओं तक के स्कंधों की गति प्रमाण है। इसलिए इन जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया त्रिलोक के शिखर के ऊपर नहीं है; क्योंकि आगे गति के निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। जिसप्रकार जल के अभाव में मछलियों की गतिक्रिया नहीं होती; उसीप्रकार जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उस क्षेत्र तक ही स्वभावगतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूप से परिणत जीव-पुद्गलों की गति होती है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक होता है, जहाँ तक धर्मद्रव्य का अस्तित्व है। उसके आगे इनका गमन नहीं होता।।१८४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है–

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः।।३०४।।

(रोला)

तीन लोक के शिखर सिद्ध स्थल के ऊपर।
गति हेतु के कारण का अभाव होने से।।
अरे कभी भी पुद्गल जीव नहीं जाते हैं।
आगम में यह तथ्य उजागर किया गया है।।३०४।।

गति हेतु के अभाव के कारण जीव और पुद्गलों का गमन त्रिलोक के शिखर के ऊपर कभी भी नहीं होता।

जो बात गाथा में कही गई है, वही बात इस छन्द में दुहरा दी गई है।।३०४।।●